सवाल व्यवस्था का नहीं, सम्पूर्ण व्यवस्था का है

□ शम्भूलाल दोषी

अभी पिछले सप्ताह एक अमेरिकन लड़की से मिलना हुआ। वह हमारे देश में हाल में आई है। कोई सैर-सपाटे के लिये नहीं और न सैलानी की तरह। आई है हिन्दुस्तान के गांव में सेवा कार्य करने। कैफ़ियत में उसने बताया कि अमेरिका में वह चिकित्सा विज्ञान की स्नातक छात्रा है और दो सेमेस्टर पूरे करने के बाद यहाँ आई है। यहां वर्ष भर रहेगी। गांवों में सेवा करेगी। पुन: लौटकर अपने अध्ययन में जुट जायेगी। और यह सब 'पागलपन' वह अपने खर्चे से कर रही है। उसके माता-पिता कोई धनाढ्य नहीं हैं—सिर्फ खाते पीते हैं। लड़की ने अपनी पढ़ाई के साथ कुछ कमाया भी। और उसी बचत की धन-राशि को लेकर वह यहां हिन्दुस्तान के गांवों में आई है। मनुष्यता के साथ वह अपना फर्ज समझती है और उसी के प्रयोग में इधर निकल आई। इस लड़की का यह वाकया कई प्रश्न पैदा करता है। इन प्रश्नों में बुनियादी प्रश्न यह है कि अमेरिकी सामाजिक व्यवस्था में ऐसे कौन से आधार तत्व हैं जो इस लड़की को थोड़े समय के लिये पढ़ाई से हटाकर दूर-दराज के देश में सेवा के लिये फेंक देते हैं? इस लड़की के इस 'जनून' को इसकी सामाजिक व्यवस्था में खोजना पड़ेगा।

एक दृश्य हिन्दुस्तान का भी है। इसे देखिये : हमारे आदमी यदि बन पड़े तो वह मुर्दे पर ओढाये हुए कफ़न को ले जाकर अपने जाँघिये बना लेगा। घर से लेकर चौराहे तक, गांव की चौपाल से लेकर राजधानी तक, परिवार से लेकर जाति तक, कहीं भी देखिये उसके सम्बन्धों का घेरा घिनौना है। जीवन के मूल्य उसके लिये किताबी बन गये हैं। और वह एकदम 'व्यावहारिक'। अपनी इस

त्रासदी के लिये उसे गुस्सा न आता हो, ऐसा नहीं। वह इस गुस्से को कभी-कभार उतारता भी है। घर में बच्चों को पीटता है, पत्नी को आड़े हाथों लेता है। बाजार, दफ्तर में, ग्राहक और बॉस पर झुंझलाता है। जाति, बिरादरी कहीं भी उसे देखिये, उखड़ा हुआ लगता है। उसकी कोई एक रंग नहीं, अनेक रंगें एक साथ दिखती हैं। पर वह कभी भी अपनी व्यवस्था को जिसका वह भागीदार है, जिसे उसने स्वयं बनाया है, जिसे वह स्वयं जीवित रख रहा है, चुनौती नहीं देता। वह व्यक्तियों पर अपना क्रोध उतारता है, व्यवस्था को उसकी संरचनाओं को नहीं झकझोरता और यही उसकी त्रासदी का मूल है।

आज हमारी बहस का सारा दारोमदार राजनैतिक व्यवस्था है। हम किसी भी स्थानीय, प्रान्तीय या राष्ट्रीय हादसे पर बिना राजनीतिक संदर्भ के टिप्पणी नहीं कर सकते। हमारी बात का लहजा ही राजनीति है। इससे आगे बात सरकती ही नहीं। लगता है, भारतीय जीवन का केन्द्र ही राजनीति है। अब संसदीय-व्यवस्था और अध्यक्षीय-व्यवस्था पर बहस चल रही है। देश के बौद्धिक आम जन-जीवन की व्यथाओं का निदान राजनैतिक व्यवस्था में खोज रहे हैं। थीसिस कुछ इस तरह है: हमारी हाल की सभी मजबूरियां, मंहगाई, बेरोजगारी, गरीबी इसी राजनैतिक व्यवस्था के कारण हैं और इसे बदल दिया जाये तो हम खुशहाल हो जायेंगे। देश में अमन-चैन हो जायेगा। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि व्यवस्था में खराबी नहीं है, वह दुरुस्त है। खराबी इसमें काम करनेवाले व्यक्तियों और उनकी भूमिका की है। व्यक्ति बदल दीजिये, भूमिकाएँ पुनः परिभाषित कर दीजिये और व्यवस्था बदस्तूर चल पड़ेगी। अपनी बुनियाद में व्यवस्था में खराबी नहीं। इस तर्क के हिमायती भी घूम-फिर कर हमारी सम्पूर्ण समस्याओं का निराकरण राजनैतिक व्यवस्था में खोजते हैं। तो थीसिस यही कहता है कि हमारी आज की पीड़ाओं का सम्बन्ध मूल रूप से हमारी राजनैतिक-व्यवस्था, दल-व्यवस्था, मतदान-प्रक्रिया और बिगड़ते-बनते राजनीतिक व्यवहार से जुड़ी हुई हैं। व्यवस्था की यह थीसिस हमें स्वीकार नहीं है। हमारा तर्क है कि हमारी हाल की सामाजिक बीमारियाँ केवल राजनैतिक व्यवस्था के कारण ही नहीं हैं, सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के कारण हैं। वास्तविकता यह है कि हमारी सामाजिक-व्यवस्था ही राजनैतिक-व्यवस्था को बनाती है। यह राजनैतिक-व्यवस्था इसी सामाजिक व्यवस्था की एक अंग है। इस सामाजिक व्यवस्था को जब तक नहीं बदला जाता, केवल राजनैतिक व्यवस्था के बदलने मात्र से, लीपा-पोती के सिवाय और कुछ परिणाम नहीं होगा। अपने तर्क का हम थोड़ा विश्लेषण करेंगे।

वह अमेरिकन लड़की जिसका जिक्र हमने प्रारम्भ में किया है, उसके व्यवहार का विश्लेषण हम सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में करें। इससे व्यवस्था के आयाम और उसके अर्थ स्पष्ट होंगे। अमेरिका में परिवार व्यवस्था ऐसी है जो बच्चों को अपने पांवों पर खड़ा होने के लिये मजबूर करती है। परिवार कितना भी धनाढ्य क्यों न हो, बच्चों को तो थोड़ा होश में आने पर खुद अपने पांवों पर खड़ा होना है। किशोर बच्चे धड़ल्ले से कारखानों, बगीचों और सड़कों पर काम करते हैं। कमाना है, स्कूल या कालेज की फीस देनी है तो मेहनत करने से कतराना कैसा। वहां का बच्चा परिवार पर निर्भर नहीं है। परिवार तो निरा-आश्रय मात्र देता है—एक रैन-बसेरा है। करना तो सब बच्चों को है। यह एक व्यवस्था परिवार की है। हमारा परिवार दूसरी तरह का है। हम बच्चे को दातुन से लेकर रात के बिस्तर के लिये परेशान हैं। स्कूल का गृहकार्य भी हमें ही करवाना है। नौकरी के लिये भी हमें किसी तरह जुगाड़ बैठाना है। विवाह का बन्दोबस्त भी हमारे ही माथे है। परिवार के फर्जों की फेहरिस्त बहुत लम्बी है और इस सारी प्रक्रिया में, सामाजिकरण में, हमारे व्यक्तित्व में यह बात बैठ जाती है कि हमारे कर्तव्य बहुत सीमित हैं। ऐसी व्यवस्थाएं समाज में हैं जो हमारे लिये कई अदद बैसाखियां तैयार लेकर बैठी हैं। वह अमेरिकन लड़की जो गांव के चौपाल में परदेसियों के लिये काम कर रही है, अपनी व्यवस्था की उपज है। मां-बाप ने तो उसे निदर्य और पराई दुनियां में धकेल दिया है। वहां की परिवार व्यवस्था ने इस लड़की को अपने पैरों पर खड़ा कर दिया है। परिवार ही क्यों, यदि विश्लेषण को आगे खींचें तो पता लगेगा वहां की सम्पूर्ण सामाजिक संरचना ही ऐसी है, जो उसे सतत आगे बढ़ने के लिये तैयार करती है।

जब सामाजिक व्यवस्था की चर्चा करते हैं तो हमें इसके विशाल अर्थ और इसी से जुड़े सन्दर्भों की व्याख्या

करनी पड़ेगी। एक से अधिक व्यक्ति जब अपने तुष्टिकरण या उद्देश्य प्राप्ति के लिये सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और ऐसा करने में वे सामान्य रूप से स्वीकृत मानक, मूल्य या नियमों का परिपालन करते हैं, तो यह व्यवस्था बन जाती है। व्यवस्था में निरन्तरता होती है। इसका जीवन व्यक्तियों के जीवन से लम्बा होता है, यह बुनियादी रूप से पुनरावृतिमूलक होती है। सिद्धान्त रूप में, किसी भी व्यवस्था की यही व्याख्या है।

हमारे परिवार, घर-आँगन, गांव-शहर, जाति-बिरादरी, बन्धु-बान्धव, पंचायत-संसद और ऐसी ही अनेक संरचनाएं सामाजिक व्यवस्था हैं। ये व्यवस्थाएं व्यक्ति के व्यवहार को नियमित और नियन्त्रित करती हैं। यहां आकर हमारा मिथिक समाप्त होता जाता है कि राजनीतिक व्यवस्था ही सम्पूर्ण जीवन की मूल है। मूल तो सामाजिक व्यवस्था है जिसका अंग मात्र राजनैतिक व्यवस्था है। मार्क्स ने सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के बारे में कहा था कि इन व्यवस्थाओं को बदलने का एक मात्र आधार आर्थिक व्यवस्था है। भारतीय संदर्भ में शायद यहां यह थीसिस सही नहीं उतरता। यहां तो जाति व्यवस्था ही आर्थिक व्यवस्था को निश्चित करती है। ऊँची जाति का व्यक्ति तो ऊँचा पैसे वाला। ऊँची जाति और पूंजीवाद का यहां सह-सम्बन्ध है। हमारे देश के संदर्भ में ऐसा लगता है कि सामाजिक व्यवस्था मूल है, और इसे बदल कर हम आर्थिक और राजनैनिक व्यवस्थाओं को बदल सकते हैं। मार्क्स इस क्षेत्र में यहां सही नहीं उतरता। उसकी व्याख्या भी यहीं के सामाजिक-ऐतिहासिक परम्परा में करनी पड़ेगी। हमारा आग्रह यह है कि व्यक्ति किसी समुदाय के व्यवहार की व्याख्या सम्पूर्ण और विशाल सामाजिक व्यवस्थाओं से पृथक् करके नहीं की जा सकती।

अपने मूल में राजनैतिक व्यवस्था जैसी आज यह संविधान में है, अपने परिवेश में उतनी विशाल नहीं है, जितनी हमने उसे बना दिया है। संविधान एकाधिक संस्कृतियों को स्वीकार करता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न भाषा-भाषाई समूह जैसे—बंगाली, उड़िया, गुजराती, पंजाबी अपनी सांस्कृतिक शिनाख्त को रखते हुए देश की मुख्य धारा के अंग बने रह सकते हैं। देश के विभिन्न सम्प्रदायों, धार्मिक समूह को देखते हुए यही एक सिक्यूलर रास्ता संविधान निर्माताओं के सामने था। अलबत्ता आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में किसी भी समूह को सांस्कृतिक क्षेत्र की तरह आज़ादी नहीं है। आर्थिक और राजनैतिक पक्ष संविधान की मुख्य धारा हैं। इनसे कोई पृथक् नहीं रह सकता। ऐसी अवस्था में जब राजनैतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था या क्षेत्रीय सांस्कृतिक व्यवस्था में कोई दखल नहीं देना चाहती तब सामाजिक व्यवस्था कहां से बदलेगी यदि सामाजिक व्यवस्था को बदलना है तो राजनैतिक व्यवस्था कुछ नहीं कर सकती और जब सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलती तो हमारी मुसीबतों का अंत नहीं होता। अतः आज हमें राजनैतिक व्यवस्था के बदलाव को बहस चलाने के बजाय सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बदलने की बात करनी चाहिये।

आम आदमी राजनीति में नहीं जीता। गांवों का किसान राजनैतिक व्यवस्थाओं, दलबन्दी, सरकार आदि के सम्पर्क में यदाकदा ही आता है। उसे राजस्व छः वर्ष में एक बार देना होता है। उसके गांव में पटवारी और कभी-कभार पुलिस के सिवाय कोई आता नहीं, राजनैतिक नेता चुनाव के दौर में आते हैं, अन्यथा नहीं। ग्रामीण जीवन का बड़ा भाग आर्थिक और सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में सांस लेता है। अतः यदि गांवों की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बदल दिया जाये तो हमें अपनी कई मुसीबतों से जिसके हम शिकार हैं, मुक्ति मिल जायेगी। हमारा तर्क यह है कि हमारी राजनैतिक व्यवस्था खराब है, उसे बदला जाना चाहिये। लेकिन नई जो भी राजनैतिक व्यवस्था हम बनायेंगे वह भी हमें रास नहीं आयेगी। यह इसलिये कि हमारी सामाजिक व्यवस्था ने हमारे समूहों और व्यक्तित्व को इस तरह गढ़ा है कि हम नवीन व्यवस्था को भी चौपट कर देगें। किसी भी व्यवस्था को लाने से पहले या इसी व्यवस्था को दुरुस्त करने से पहले, हमें सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को—परिवार, वर्ग, भाषा, धर्म, गांव, शहर, सभी को, एक तरह से सम्पूर्ण ऐतिहसिक सामाजीकरण को पुनः परिभाषित करना पड़ेगा। व्यवस्था के एक ईकाई में कील ठोंक कर, व्यवस्था के सुधारने की बात करना, निहित स्वार्थों की पूर्ति करना ही है। आम आदमी को गुमराह करने की इससे बड़ी कोई साजिश नहीं हो सकती। नारेबाजी और लफ्फाजी राजनीति में काम करते होंगे। सामाजिक व्यवस्था को बदलना टेढ़ा काम है। □